



महाभारत कालीन नगरों के आर्थिक परिप्रेक्ष्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन

आंचल देवी

शोध छात्रा, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, गुरुकुल कांगड़ी समविश्वविद्यालय, हरिद्वार

डॉ० दीपा गुप्ता

प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, कन्या गुरुकुल परिसर, ज्वालापुर, गुरुकुल कांगड़ी समविश्वविद्यालय, हरिद्वार

Article Info: (Received- 05/01/2026, Accept- 10/02/2025, Published- 15/03/2026)

DOI- 10.65919/ijahssc.2026.v2i2001

सारांश

महाभारत भारतीय सभ्यता के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन का एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक एवं साहित्यिक स्रोत है। यद्यपि इसे मुख्यतः एक महाकाव्य के रूप में जाना जाता है, तथापि इसमें वर्णित नगरों, राजधानियों, व्यापारिक मार्गों, शिल्पकारों, व्यापारिक समुदायों तथा बाजार व्यवस्था का अध्ययन तत्कालीन नगरीय अर्थव्यवस्था के स्वरूप को समझने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य महाभारत में वर्णित नगरीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न आयामों व्यापार, शिल्प, बाजार व्यवस्था, श्रेणी संगठन, कर व्यवस्था तथा कृषि अधिशेष का ऐतिहासिक विश्लेषण करना है। अध्ययन में महाभारत को प्राथमिक स्रोत के रूप में तथा प्राचीन भारतीय इतिहास, पुरातत्त्व एवं आर्थिक इतिहास से सम्बन्धित प्रमाणिक ग्रन्थों और शोध-पत्रों को द्वितीयक स्रोत के रूप में उपयोग किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि महाभारतकालीन नगर केवल राजनीतिक सत्ता के केन्द्र नहीं थे, बल्कि वे उत्पादन, विनिमय, व्यापार, उद्योग तथा प्रशासन के संगठित आर्थिक केन्द्र भी थे। इन नगरों में विकसित बाजार व्यवस्था, शिल्प संगठन, कर प्रणाली तथा व्यापारिक मार्गों का अस्तित्व तत्कालीन भारतीय नगरीकरण की परिपक्व आर्थिक संरचना का परिचायक है।

प्रमुख शब्द— महाभारत, नगरीय अर्थव्यवस्था, व्यापार, शिल्प, बाजार, श्रेणी, कर व्यवस्था, पण्य, नगरीकरण।

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन में महाभारत का स्थान केवल एक धार्मिक अथवा दार्शनिक ग्रन्थ तक सीमित नहीं है, बल्कि यह तत्कालीन समाज, राजनीति, अर्थव्यवस्था तथा संस्कृति के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण स्रोत भी है। महाभारत में वर्णित हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, द्वारका, मथुरा, विराटनगर, गिरिव्रज, काशी तथा अन्य अनेक नगर उस समय के विकसित नगरीय जीवन के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इन नगरों का स्वरूप यह दर्शाता है कि वे केवल राजकीय प्रशासन के केन्द्र नहीं थे, बल्कि व्यापार, शिल्प, उद्योग, कृषि अधिशेष के वितरण तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान के प्रमुख केन्द्र भी थे। इस प्रकार महाभारत में निहित आर्थिक संकेत तत्कालीन भारतीय नगरीकरण की परिपक्व अवस्था को समझने में अत्यन्त सहायक सिद्ध होते हैं। महाभारत में अनेक प्रसंग ऐसे हैं जिनमें विभिन्न जनपदों, राज्यों तथा नगरों के मध्य व्यापारिक संपर्क, उपहारों का आदान-प्रदान, कर संग्रह, शिल्पकारों की भूमिका तथा व्यापारिक समुदायों का उल्लेख प्राप्त होता है। राजसूय यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ तथा विभिन्न राजकीय आयोजनों में दूर-दूर से आए व्यापारियों, शिल्पियों तथा विभिन्न प्रदेशों से प्राप्त मूल्यवान वस्तुओं का वर्णन तत्कालीन आर्थिक समृद्धि तथा व्यापक व्यापारिक संबंधों का परिचायक है।

महाभारतकालीन अर्थव्यवस्था का आधार कृषि था, किन्तु कृषि के साथ-साथ शिल्प, व्यापार तथा उद्योग भी आर्थिक जीवन के अभिन्न अंग थे। कृषि से प्राप्त अधिशेष उत्पादन नगरों तक पहुँचता था, जहाँ उसका विनिमय एवं वितरण विभिन्न व्यापारिक माध्यमों से होता था। यही अधिशेष उत्पादन नगरों के विकास, जनसंख्या की वृद्धि तथा विविध शिल्प एवं उद्योगों के विस्तार का आधार बना। महाभारत में उपलब्ध आर्थिक संकेतों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है कि कृषि के विविध स्वरूपों, विभिन्न प्रकार की कृषि उपज, सिंचाई व्यवस्था तथा कृषि उपकरणों का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि कृषि क्षेत्र में तकनीकी एवं उत्पादक दोनों स्तरों पर महत्वपूर्ण प्रगति हो चुकी थी। विशेष रूप से कृषि उपकरणों का व्यापक उल्लेख इस तथ्य का द्योतक है कि प्रौद्योगिकी ने उत्पादन क्षमता के विस्तार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।¹

महाभारत से यह भी ज्ञात होता है कि इस काल में वस्त्र उद्योग उल्लेखनीय रूप से विकसित हो चुका था। विभिन्न प्रकार के सूती, ऊनी तथा रेशमी वस्त्रों का वर्णन तत्कालीन वस्त्र-निर्माण तकनीक की उन्नत अवस्था को अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार विविध प्रकार के शिल्प उत्पादों का उल्लेख यह संकेत देता है कि शिल्पकला केवल स्थानीय आवश्यकताओं तक सीमित नहीं थी, बल्कि वह व्यापार एवं नगरीय अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण आधार बन चुकी थी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शिल्प उत्पादन में विशेषीकरण तथा श्रम-विभाजन की प्रक्रिया निरंतर विकसित हो रही थी।

महाभारत में व्यापारिक संगठनों, निगमों, श्रेणियों तथा वणिज् समुदायों के उल्लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये संस्थाएँ केवल आर्थिक गतिविधियों तक सीमित नहीं थीं, बल्कि राजकीय एवं सामाजिक जीवन में भी उनकी सक्रिय भूमिका थी। संगठित व्यापारिक संस्थाओं की उपस्थिति इस तथ्य का प्रमाण है कि व्यापारिक गतिविधियाँ सुव्यवस्थित संगठनात्मक ढाँचे के अंतर्गत संचालित होती थीं तथा राज्य द्वारा भी उन्हें संरक्षण प्राप्त था। विकसित व्यापारिक संस्थाओं के कारण उत्पादन, वितरण एवं विनिमय की प्रक्रियाएँ अधिक संगठित रूप में संचालित हो सकीं। महाभारत में अंतर्देशीय एवं बाह्य व्यापार के पर्याप्त संकेत प्राप्त होते हैं। विभिन्न जनपदों के मध्य व्यापारिक संपर्क, दूरस्थ प्रदेशों से मूल्यवान् वस्तुओं का आगमन तथा समुद्री मार्गों के माध्यम से व्यापारिक गतिविधियों का संचालन इस बात का प्रमाण है कि तत्कालीन भारतीय अर्थव्यवस्था का विस्तार केवल स्थानीय अथवा क्षेत्रीय स्तर तक सीमित नहीं था। समुद्री जहाजों तथा नौपरिवहन के अनेक उल्लेख यह सिद्ध करते हैं कि जलमार्गों का उपयोग व्यापारिक उद्देश्यों के लिए व्यापक रूप से किया जाता था। समुद्री व्यापार के माध्यम से बहुमूल्य धातुओं, रत्नों, सुगन्धित पदार्थों तथा अन्य विलास-वस्तुओं का आयात-निर्यात होता था, जिससे भारतीय नगरों की आर्थिक समृद्धि में उल्लेखनीय वृद्धि हुई।²

इन समस्त तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाभारतकालीन अर्थव्यवस्था कृषि, शिल्प, व्यापार तथा संगठित व्यावसायिक संस्थाओं पर आधारित एक विकसित आर्थिक व्यवस्था थी। उत्पादन में वृद्धि, शिल्पों का विस्तार, व्यापारिक मार्गों का विकास तथा श्रेणी एवं निगम जैसी आर्थिक संस्थाओं की सक्रियता ने भारतीय नगरीकरण की प्रक्रिया को सुदृढ़ आधार प्रदान किया। परिणामस्वरूप नगर केवल प्रशासनिक केन्द्र न रहकर उत्पादन, व्यापार, विनिमय तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान के सशक्त आर्थिक केन्द्रों के रूप में विकसित हुए।³

कृषि-व्यवस्था को प्राप्त राजकीय संरक्षण

महाभारतकालीन आर्थिक व्यवस्था में कृषि को राज्य की समृद्धि तथा जनजीवन की स्थिरता का प्रमुख आधार माना गया था। इस दृष्टि से राजा का दायित्व केवल राज्य की राजनीतिक सुरक्षा तक सीमित नहीं था, बल्कि कृषि-उत्पादन की निरन्तर वृद्धि तथा कृषक वर्ग के हितों की रक्षा करना भी उसके शासन का महत्वपूर्ण अंग था। राजा से अपेक्षा की जाती थी कि वह ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित करे जिनमें वैश्य वर्ग कृषि के माध्यम से उन्नति कर सके और कृषकों को उत्पादन के लिए आवश्यक सुरक्षा एवं सुविधाएँ प्राप्त हों। यदि राजा की उपेक्षा या प्रशासनिक शिथिलता के कारण चोरों, राजकीय कर्मचारियों अथवा स्वयं राज्य-व्यवस्था से कृषकों के भीतर भय, असुरक्षा या संदेह उत्पन्न होता था, तो ऐसी स्थिति के लिए उत्तरदायित्व राजा पर ही निर्धारित किया जाता था। इससे स्पष्ट होता है कि कृषि की सुरक्षा को तत्कालीन राजधर्म का एक महत्वपूर्ण पक्ष माना गया था।

कृषक केवल उत्पादन करने वाला व्यक्ति नहीं था, बल्कि राज्य की आर्थिक संरचना का आधारभूत घटक था। इसलिए कृषकों की संतुष्टि तथा उनके कष्टों का निवारण राजा के आवश्यक कर्तव्यों में सम्मिलित था। कृषि की उन्नति के लिए जिन उपायों की आवश्यकता हो, उन्हें लागू करना राजकीय दायित्व माना गया। इस व्यवस्था में कृषकों को बाहरी उपद्रवों से सुरक्षा प्रदान करने के साथ-साथ ऐसी प्रशासनिक परिस्थितियाँ उपलब्ध कराना भी आवश्यक था, जिनमें वे निर्भय होकर कृषि-कार्य कर सकें। इस प्रकार कृषक-कल्याण को केवल सामाजिक दायित्व न मानकर राज्य की आर्थिक नीति का अनिवार्य अंग समझा गया था।⁴

कृषि की उत्पादकता प्राकृतिक परिस्थितियों पर भी अत्यधिक निर्भर थी। जिन क्षेत्रों में पर्याप्त वर्षा नहीं होती थी और जहाँ कृषि केवल प्राकृतिक वर्षाजल के सहारे सम्भव नहीं थी, वहाँ सिंचाई की वैकल्पिक व्यवस्था करना राजा का कर्तव्य माना गया। ऐसे क्षेत्रों में आवश्यकतानुसार तालाबों एवं जलाशयों का निर्माण करवाया जाना राजकीय उत्तरदायित्व के अंतर्गत आता था। इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन शासन कृषि को प्रकृति की अनिश्चितताओं के अधीन छोड़ने के स्थान पर जल-संसाधनों के नियोजन और संरक्षण के माध्यम से उत्पादन को स्थिर बनाने का प्रयास करता था। जलाशयों का निर्माण केवल सिंचाई की सुविधा तक सीमित नहीं था, बल्कि यह कृषि की निरन्तरता, खाद्य उत्पादन तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था की सुरक्षा से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ था।⁶

महाभारतकालीन राज्यव्यवस्था में कृषक-हित को केवल कृषि-उत्पादन की दृष्टि से नहीं, बल्कि समग्र आर्थिक स्थायित्व से जोड़कर देखा गया था। विशेष रूप से निर्धन कृषकों की सहायता को राजधर्म का महत्वपूर्ण पक्ष माना गया। जिन कृषकों के पास अपनी आजीविका चलाने के लिए पर्याप्त अन्न अथवा कृषि आरम्भ करने के लिए आवश्यक संसाधन नहीं होते थे, उनके लिए राजा द्वारा खाद्यान्न की व्यवस्था करने के साथ-साथ बीज आदि उपलब्ध कराने की अपेक्षा की गई थी। इससे यह संकेत मिलता है कि राज्य की भूमिका केवल कर-संग्रह तक सीमित नहीं थी, बल्कि वह उत्पादन की प्रक्रिया को आरम्भ करने और उसे बनाए रखने के लिए आवश्यक न्यूनतम साधन भी उपलब्ध कराता था। कृषि के लिए बीज उपलब्ध कराना विशेष रूप से महत्वपूर्ण था, क्योंकि बीज के अभाव में कृषक अगले कृषि-चक्र में प्रवेश ही नहीं कर सकता था। इस प्रकार राजकीय सहायता को कृषि-उत्पादन की निरन्तरता बनाए रखने के उपाय के रूप में देखा जा सकता है।⁶

महाभारत में कृषि के साथ वाणिज्य, पशुपालन तथा ऋण-व्यवस्था को भी सम्मिलित करते हुए 'वार्ता' को व्यापक आर्थिक व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया गया है। राजा का कर्तव्य था कि वार्ताकर्म में योग्य, सदाचारी एवं विश्वसनीय व्यक्तियों को नियुक्त करे तथा उन्हें संरक्षण प्रदान करे। कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और धन-विनियोग से सम्बद्ध इन आर्थिक गतिविधियों की समृद्धि को लोकजीवन की सुख-समृद्धि का आधार माना गया था। सभा पर्व में व्यक्त विचार "वार्ताया सश्चितस्तात लोकोयं सुखमेधते" इसी व्यापक आर्थिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। इसका ऐतिहासिक महत्व इस तथ्य में निहित है कि राज्य की समृद्धि को केवल राजकीय कोष की वृद्धि से नहीं, बल्कि उत्पादन एवं आर्थिक गतिविधियों के सुचारु संचालन से जोड़ा गया था। कृषि और व्यापार की उन्नति होने पर ही समाज में आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धता, विनिमय की गति तथा राजस्व की निरन्तरता बनी रह सकती थी।⁷

महाभारत में कृषक और वणिग दोनों को राष्ट्र की आर्थिक शक्ति का प्रमुख आधार माना गया है। कृषक अन्न एवं अन्य कृषि-उत्पादों का उत्पादन करता था, जबकि वणिग इन उत्पादों तथा अन्य वस्तुओं के विनिमय और वितरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था। इसलिए राजा को यह सुनिश्चित करने का निर्देश दिया गया कि कृषक और व्यापारी अत्यधिक करभार, प्रशासनिक उत्पीड़न अथवा अन्य किसी कारण से आर्थिक रूप से कमजोर न हों। यदि उत्पादक वर्ग ही संकटग्रस्त हो जाए, तो उसका प्रत्यक्ष प्रभाव राज्य की समृद्धि और जनजीवन पर पड़ना स्वाभाविक था। महाभारत में इसीलिए राजा को कृषकों एवं वणिगों की स्थिति पर निरन्तर दृष्टि रखने के लिए सावधान किया गया है—

"कच्चित् कृषिकरा राष्ट्रं न जहत्यतिपीडिताः"।⁸

यह कथन राजकीय आर्थिक नीति के उस पक्ष को सामने लाता है जिसमें कर-संग्रह और उत्पादक वर्ग के संरक्षण के बीच संतुलन स्थापित करना आवश्यक माना गया था। कृषक और वणिग के महत्व को महाभारत व्यापक सामाजिक एवं धार्मिक संदर्भ में भी स्थापित करता है। कृषि और वाणिज्य से प्राप्त उत्पादन केवल व्यक्तिगत उपभोग तक सीमित नहीं था, बल्कि उससे समाज के विभिन्न वर्गों, धार्मिक अनुष्ठानों तथा राज्य-व्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। इस दृष्टि से कृषक का श्रम सम्पूर्ण सामाजिक संरचना के निर्वाह से जुड़ा हुआ था। अतः कृषक के अभाव, ऋणग्रस्तता अथवा उत्पादन-संकट की उपेक्षा करना अंततः राज्य की आर्थिक नींव को कमजोर करना माना जा सकता है। यही कारण है कि राजधर्म के अंतर्गत कृषक एवं वणिग के संरक्षण पर विशेष बल दिया गया है।

कर-व्यवस्था के संदर्भ में भी महाभारत एक निश्चित मर्यादा का संकेत देता है। प्रजा की सुरक्षा और राजकीय दायित्वों के निर्वाह के बदले राजा को प्रजा की आय का षष्ठांश कर के रूप में प्राप्त करने का अधिकार था। इस व्यवस्था का मूल आधार यह था कि राजा प्रजा की रक्षा करे और उसके बदले राज्य के लिए निर्धारित अंश प्राप्त करे। महाभारत में कहा गया है—

**‘आददीत बलिं चापि प्रजाभ्यः कुरुवन्दन।
स षड्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये।’⁹**

अर्थात् बुद्धिमान राजा प्रजा की रक्षा के लिए उसकी आय का छठा भाग ग्रहण करे। यहाँ कराधान को राजा की मनमानी आय के रूप में नहीं, बल्कि रक्षा एवं राजकीय उत्तरदायित्व के बदले प्राप्त होने वाले निर्धारित राजस्व के रूप में समझना अधिक उपयुक्त है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि कृषक से लिया जाने वाला कर उसकी उत्पादन-क्षमता और सुरक्षा की दृष्टि से एक निश्चित सीमा में होना चाहिए।

कृषकों की आर्थिक कठिनाइयों को देखते हुए राजकोष से ऋण उपलब्ध कराने की व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है। आवश्यकता पड़ने पर कृषक को राज्य की ओर से ऋण दिया जा सकता था और इस ऋण पर अपेक्षाकृत न्यून ब्याज निर्धारित था। सभा पर्व में “प्रत्येकं शतं वृद्ध्या ददास्य ऋणमनुग्रहम्” के माध्यम से ऐसे ऋण की ओर संकेत मिलता है। यहाँ ‘अनुग्रह’ शब्द विशेष महत्व रखता है, क्योंकि इससे स्पष्ट होता है कि राजकीय ऋण का उद्देश्य केवल ब्याज प्राप्त करना नहीं था, बल्कि आर्थिक संकट में पड़े व्यक्ति को पुनः उत्पादन की प्रक्रिया में स्थापित करना भी था। कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था में ऐसी ऋण-व्यवस्था विशेष रूप से महत्वपूर्ण थी, क्योंकि बीज, पशु, कृषि-उपकरण अथवा अन्य आवश्यक साधनों के अभाव में कृषक उत्पादन-चक्र से बाहर हो सकता था।¹⁰

इस प्रकार राजकीय ऋण को कृषक-सहायता की एक आर्थिक नीति के रूप में देखा जा सकता है। सामान्य परिस्थितियों में कृषक को अपनी उत्पादन-क्षमता के आधार पर ऋण चुकाना होता था, किंतु राज्य द्वारा अपेक्षाकृत अनुकूल शर्तों पर ऋण उपलब्ध कराना उसके आर्थिक पुनर्वास का माध्यम बन सकता था। इससे यह भी संकेत मिलता है कि महाभारतकालीन राजकीय चिंतन में कृषि को केवल कर प्राप्त करने वाले क्षेत्र के रूप में नहीं देखा गया, बल्कि उसमें निवेश एवं संरक्षण की आवश्यकता को भी स्वीकार किया गया था। निर्धन कृषकों के संदर्भ में राज्य की भूमिका और अधिक व्यापक दिखाई देती है। ऐसे कृषक, गोपालक अथवा वणिक जो अत्यधिक निर्धनता के कारण अपनी आर्थिक गतिविधियों को संचालित करने में असमर्थ हो जाते थे, उनके प्रति राजकीय सहायता एवं अनुग्रह की व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। यहाँ ‘दान’ और ‘ऋण’ के बीच भी एक महत्वपूर्ण अंतर दिखाई देता है। ऋण उस व्यक्ति के लिए उपयोगी था जो उत्पादन करके भविष्य में उसे वापस कर सकता था, जबकि अत्यधिक निर्धन व्यक्ति के लिए तत्काल आर्थिक सहायता या संसाधन उपलब्ध कराना अधिक आवश्यक था। इससे राजकीय आर्थिक नीति में परिस्थितिनुसार सहायता प्रदान करने की अवधारणा का संकेत मिलता है।¹¹

इन व्यवस्थाओं को समग्र रूप से देखने पर स्पष्ट होता है कि महाभारतकालीन राज्य की कृषि-नीति के तीन प्रमुख पक्ष थे— उत्पादन की सुरक्षा, कृषक की आर्थिक सहायता और कराधान में मर्यादा। बीज एवं अन्न की सहायता, वार्ता-कर्म का संरक्षण, कृषक-वणिक को अत्यधिक करभार से बचाना, आय का निर्धारित षष्ठान्श कर के रूप में ग्रहण करना तथा आवश्यकता पड़ने पर राजकोष से ऋण उपलब्ध कराना सभी उपाय कृषि एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था को स्थिर बनाए रखने की व्यापक नीति की ओर संकेत करते हैं। इस प्रकार महाभारत में राजा को केवल राजनीतिक प्रभु के रूप में नहीं, बल्कि उत्पादक वर्ग के संरक्षक और आर्थिक संतुलन के नियामक के रूप में भी देखा गया है।

वाणिज्य

महाभारतकालीन आर्थिक व्यवस्था में वाणिज्य को उत्पादन एवं वितरण की महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्वीकार किया गया था। व्यापार के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादित वस्तुओं का विनिमय होता था और नगरों तथा ग्रामों के बीच आर्थिक संबंध स्थापित होते थे। सामाजिक दृष्टि से वाणिज्य को मुख्यतः वैश्य वर्ग की पारंपरिक वृत्ति माना गया था। वैश्य के लिए व्यापार, कृषि और पशुपालन को निर्धारित आर्थिक कार्यों के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था। सामान्य परिस्थितियों में अन्य वर्गों के लिए वाणिज्य को उनकी प्रमुख वृत्ति नहीं माना गया, यद्यपि आपद् अथवा असाधारण परिस्थितियों में ब्राह्मण और क्षत्रिय को भी व्यापार करने की अनुमति दिए जाने के संकेत मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि वर्णाधारित व्यवसाय-व्यवस्था के बावजूद आर्थिक आवश्यकता के अनुसार उसमें कुछ व्यावहारिक लचीलापन विद्यमान था।

महाभारतकालीन व्यापार में वस्तुओं के क्रय-विक्रय की भी अपनी सामाजिक एवं नैतिक मर्यादाएँ थीं। सभी वस्तुओं का व्यापार समान रूप से स्वीकार्य नहीं था। दूध, मांस, तेल आदि कुछ पदार्थों के विक्रय को सामाजिक दृष्टि से अनुचित अथवा निषिद्ध माना गया था। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि तत्कालीन वाणिज्यिक व्यवस्था केवल आर्थिक लाभ के सिद्धान्त पर आधारित नहीं थी, बल्कि वस्तुओं की प्रकृति, उनके सामाजिक

उपयोग तथा प्रचलित धार्मिक-नैतिक मान्यताओं का भी व्यापार पर प्रभाव था। इस प्रकार बाजार-व्यवस्था के भीतर भी कुछ ऐसे क्षेत्र निर्धारित थे जिनमें व्यापार को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त नहीं थी।

वाणिज्य के विकास में राजा की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण मानी गई थी। व्यापारियों को सुरक्षित मार्ग, निर्बाध आवागमन तथा व्यापार के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उपलब्ध कराना राजकीय दायित्व था। व्यापार की उन्नति को राज्य की सुव्यवस्थित प्रशासनिक व्यवस्था से प्रत्यक्ष रूप से जोड़ा गया था। यदि प्रशासनिक अव्यवस्था अथवा अनुचित राजकीय नियमों के कारण व्यापारी अपने व्यवसाय को विस्तार देने में असमर्थ होता था, तो उसकी जिम्मेदारी राजा पर निर्धारित की जाती थी। इसका अर्थ यह है कि व्यापार को केवल निजी आर्थिक गतिविधि न मानकर राज्य की समग्र आर्थिक समृद्धि से संबंधित क्षेत्र समझा गया था।

महाभारत के राजधर्म संबंधी प्रसंगों में राजा को इस बात के लिए सचेत किया गया है कि उसकी नीतियों अथवा प्रशासनिक व्यवस्थाओं के कारण व्यापारियों में असुरक्षा की भावना उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। यदि कोई कुशल एवं अनुभवी व्यापारी यह अनुभव करे कि व्यापार करने में किसी प्रकार की अनिश्चितता अथवा आर्थिक क्षति की आशंका बनी हुई है, तो इसे राजकीय व्यवस्था की कमजोरी माना जा सकता है। इसलिए राजा से ऐसी नीतियाँ एवं नियम बनाने की अपेक्षा की गई थी जिनसे व्यापारी अपने व्यवसाय को निर्भय होकर संचालित कर सकें। इस दृष्टि से राज्य का दायित्व केवल कर प्राप्त करना नहीं, बल्कि व्यापारिक गतिविधियों के लिए अनुकूल आर्थिक वातावरण तैयार करना भी था।

व्यापारिक व्यवस्था में व्यापारी और शिल्पी दोनों का विशेष महत्व था। महाभारत में वणिकों और शिल्पियों का उल्लेख आर्थिक गतिविधियों से संबद्ध वर्गों के रूप में मिलता है। नगरों की समृद्धि के लिए व्यापारियों तथा शिल्पकारों की सक्रियता आवश्यक थी, क्योंकि व्यापारी वस्तुओं के विनिमय एवं वितरण को गति देते थे, जबकि शिल्पी विभिन्न उपयोगी वस्तुओं का निर्माण करते थे। इस प्रकार उत्पादन और वितरण की ये दोनों प्रक्रियाएँ परस्पर संबद्ध थीं। राजा का दायित्व था कि वह इन आर्थिक वर्गों को संरक्षण प्रदान करे तथा ऐसी प्रशासनिक परिस्थितियाँ निर्मित करे जिनमें वे निर्भय होकर अपने कार्य कर सकें।

महाभारतकालीन वाणिज्य का एक उल्लेखनीय पक्ष विदेशी व्यापारियों के प्रति राजकीय दृष्टिकोण है। विदेशी अथवा बाहरी क्षेत्रों से आने वाले व्यापारियों को व्यापार करने के लिए आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध कराना भी राजा के दायित्वों में सम्मिलित था। उनके साथ छल-कपट अथवा धोखाधड़ी न हो, वे नगरों और ग्रामों में स्वतंत्र रूप से अपने माल का क्रय-विक्रय कर सकें तथा उन्हें सुरक्षित एवं सम्मानजनक वातावरण प्राप्त हो इस प्रकार की व्यवस्था के लिए राजा को सतर्क रहने का निर्देश मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन व्यापारिक दृष्टि केवल स्थानीय बाजार तक सीमित नहीं थी, बल्कि बाहरी व्यापारिक समुदायों के साथ आर्थिक संपर्क को भी महत्व दिया जाता था।

राजधर्म संबंधी संवादों में नारद द्वारा युधिष्ठिर को दिए गए उपदेश इस संदर्भ में विशेष महत्व रखते हैं। युधिष्ठिर से यह अपेक्षा की जाती है कि नगर और राष्ट्र में व्यापारियों तथा शिल्पियों की स्थिति पर उसकी दृष्टि बनी रहे और वे किसी प्रकार के उत्पीड़न अथवा असुरक्षा के शिकार न हों। सभा पर्व में व्यापारियों और शिल्पियों के संदर्भ में राजकीय संरक्षण की आवश्यकता का उल्लेख मिलता है। यह तथ्य महाभारतकालीन राज्य की आर्थिक नीति में व्यापारिक समुदाय की केंद्रीय भूमिका को रेखांकित करता है।

विदेशी व्यापारियों के प्रति ऐसी नीति का आर्थिक महत्व भी स्पष्ट है। दूरस्थ प्रदेशों से आने वाले व्यापारी अपने साथ विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ लाते थे और बदले में स्थानीय उत्पादों को अन्य क्षेत्रों तक पहुँचाते थे। इस प्रकार बाहरी व्यापार से वस्तुओं की विविधता बढ़ती थी, बाजारों का विस्तार होता था तथा विभिन्न क्षेत्रों के मध्य आर्थिक संपर्क सुदृढ़ होते थे। विदेशी व्यापारियों को सुरक्षा और स्वतंत्रता प्रदान करना इसलिए केवल अतिथि-सत्कार का प्रश्न नहीं था, बल्कि राज्य की व्यापक व्यापारिक नीति का हिस्सा था।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि नारद, भीष्म तथा धृतराष्ट्र द्वारा युधिष्ठिर को दिए गए राजधर्म संबंधी निर्देश मूलतः आदर्श राजव्यवस्था के मानदंड प्रस्तुत करते हैं। अतः इनका उपयोग तत्कालीन प्रत्येक राज्य की वास्तविक प्रशासनिक व्यवस्था का प्रत्यक्ष प्रमाण मानने में सावधानी आवश्यक है। फिर भी इन निर्देशों से उस समय के राजनीतिक चिंतन में व्यापार, व्यापारी-वर्ग, शिल्पी तथा बाजार की भूमिका के संबंध में प्रचलित आदर्शों का पर्याप्त संकेत मिलता है। महाभारत में इन सिद्धान्तों के विपरीत कोई स्पष्ट वैकल्पिक व्यवस्था प्रस्तुत नहीं होती। युधिष्ठिर द्वारा इन राजधर्म-संबंधी निर्देशों का यथाशक्ति पालन करने की भावना यह दर्शाती है कि व्यापारिक संरक्षण को आदर्श राजधर्म का महत्वपूर्ण अंग माना गया था।

इस प्रकार महाभारतकालीन वाणिज्य-व्यवस्था का अध्ययन करने पर तीन प्रमुख तत्व सामने आते हैं—

व्यापारिक गतिविधियों में वैश्य की प्रमुख भूमिका, व्यापारियों एवं शिल्पियों का राजकीय संरक्षण तथा बाहरी व्यापारियों के लिए सुरक्षित एवं अनुकूल वातावरण। इन तत्वों ने मिलकर नगरीय अर्थव्यवस्था को गति प्रदान की होगी। विशेषतः जहाँ बाजार, शिल्प और व्यापारिक आवागमन एकत्रित होते थे, वहाँ नगरों के आर्थिक महत्व में वृद्धि होना स्वाभाविक था। अतः महाभारत में वर्णित वाणिज्यिक व्यवस्था को नगरीय अर्थव्यवस्था के विकास की एक महत्वपूर्ण आधारभूमि के रूप में देखा जा सकता है।

राजसभा में व्यापारियों का सम्मान, विदेशी वणिकों का आगमन एवं कर-व्यवस्था

महाभारत में व्यापारिक समुदाय को केवल आर्थिक दृष्टि से उपयोगी वर्ग के रूप में नहीं, बल्कि राजकीय व्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण सामाजिक समूह के रूप में भी स्वीकार किया गया है। राजसभा में व्यापारियों को सम्मान प्रदान किया जाना तथा राजधानी एवं प्रमुख नगरों में उनके व्यवसाय के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित करना इस बात का संकेत है कि वाणिज्य को राज्य की समृद्धि से प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध माना जाता था। आदिपर्व में विभिन्न दिशाओं से धनार्जन के उद्देश्य से आने वाले वणिकों का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि नगरों की आर्थिक सक्रियता दूरस्थ क्षेत्रों से आने वाले व्यापारियों को आकर्षित करती थी।

महाभारत में समृद्ध नगरों की एक विशेषता यह भी दिखाई देती है कि वहाँ विभिन्न प्रदेशों एवं देशों से व्यापारी व्यापार के उद्देश्य से आते थे। ऐसे व्यापारियों के लिए नगरों में व्यवसाय करने की पर्याप्त स्वतंत्रता तथा सुरक्षा उपलब्ध कराई जाती थी। व्यापारिक गतिविधियों के लिए अनुकूल वातावरण होने पर बाहरी व्यापारी स्थानीय बाजारों में वस्तुओं का क्रय-विक्रय कर सकते थे और अपने व्यापार का विस्तार कर सकते थे। इस प्रकार नगर केवल स्थानीय उत्पादन और उपभोग के केन्द्र नहीं थे, बल्कि वे दूरस्थ क्षेत्रों को जोड़ने वाले व्यापारिक केन्द्र के रूप में भी कार्य करते थे। आदि पर्व में नगरों को विविध दिशाओं से आने वाले धनाभिलाषी वणिकों तथा समृद्ध जनसमुदाय से युक्त बताया गया है— “वणिजश्चायुस्तत्र नानादिग्भ्यो धनार्थिनः”। यह उल्लेख तत्कालीन नगरों के बहुक्षेत्रीय व्यापारिक चरित्र की ओर संकेत करता है।

व्यापारियों की इस सक्रियता के पीछे राजकीय संरक्षण की महत्वपूर्ण भूमिका थी। राजधानी अथवा समृद्ध नगर में व्यापार करने वाले वणिकों को यदि सुरक्षित आवागमन, व्यापारिक स्वतंत्रता तथा उचित प्रशासनिक व्यवस्था प्राप्त होती थी, तो वे अधिक मात्रा में पूँजी लगाकर व्यापार का विस्तार कर सकते थे। इससे नगर में वस्तुओं की उपलब्धता बढ़ती थी, बाजार अधिक सक्रिय होता था और राजकीय राजस्व में भी वृद्धि होती थी। इस प्रकार व्यापारी और राज्य के हित परस्पर जुड़े हुए थे। दूरस्थ प्रदेशों से व्यापार के उद्देश्य से आने वाले वणिकों पर राजकीय कर लगाया जाता था। महाभारत में यह संकेत प्राप्त होता है कि व्यापारियों से उनकी आर्थिक क्षमता एवं व्यापारिक गतिविधियों को ध्यान में रखकर कर लिया जाना चाहिए। सभा पर्व में युधिष्ठिर से पूछा गया है—

“कच्चिदभ्यागता दूराद् वणिजो लाभकारणात्”¹²

अर्थात् क्या दूर-दूर से लाभ की अपेक्षा से आने वाले व्यापारी उचित व्यवस्था प्राप्त कर रहे हैं? इसी प्रकार शान्तिपर्व में यह चिन्ता व्यक्त की गई है कि व्यापारी अत्यधिक करभार के कारण उत्पीड़ित न हों—

“कच्चित्ते वणिजो राष्ट्रे नोहिजन्ति करार्हिताः”¹³

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि व्यापारिक कराधान का उद्देश्य राजस्व प्राप्त करना था, किन्तु उसकी ऐसी सीमा नहीं होनी चाहिए थी जिससे व्यापारिक गतिविधियाँ ही बाधित हो जाएँ।

कर निर्धारण के संबंध में महाभारत में एक महत्वपूर्ण आर्थिक दृष्टिकोण दिखाई देता है। राजा को व्यापारियों पर कर लगाते समय केवल उनकी बिक्री को आधार नहीं बनाना चाहिए, बल्कि वस्तुओं की क्रय-विक्रय स्थिति, मूल्य, लाभ की मात्रा, व्यापारी की पूँजी, उसकी आर्थिक क्षमता तथा व्यापार में लगी वस्तुओं की प्रकृति आदि का भी ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार कराधान को व्यापारी की वास्तविक आर्थिक स्थिति के अनुरूप निर्धारित करने की अवधारणा दिखाई देती है। इससे यह संकेत मिलता है कि राजकीय आर्थिक नीति में कराधान और व्यापारिक हितों के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया जाता था।

इस व्यवस्था का मूल उद्देश्य राजकोष को आय उपलब्ध कराना तो था ही, साथ ही व्यापार की निरन्तरता को बनाए रखना भी था। यदि कर अत्यधिक बढ़ा दिया जाता, तो व्यापारी का लाभ कम हो सकता था और वह व्यापारिक गतिविधियों को सीमित कर सकता था। इसके विपरीत अत्यल्प कर से राज्य को पर्याप्त राजस्व प्राप्त नहीं होता। अतः राजा से अपेक्षा की जाती थी कि वह ऐसी कर-व्यवस्था बनाए जिसमें व्यापारियों पर अनुचित आर्थिक भार न पड़े और राजकोष को भी नियमित आय प्राप्त होती रहे। यह दृष्टिकोण प्राचीन भारतीय आर्थिक चिंतन में उत्पादन एवं व्यापार की सुरक्षा के साथ राजस्व-संग्रह के संतुलन को दर्शाता है।

व्यापारियों से प्राप्त कर को राजा की सेवाओं के प्रतिफल के रूप में भी समझाया गया है। राज्य व्यापारी के

लिए मार्गों एवं नगरों की सुरक्षा सुनिश्चित करता था, डाकुओं तथा अन्य बाधाओं से उसकी रक्षा करता था और उसके माल तथा व्यापारिक गतिविधियों को सुरक्षित वातावरण प्रदान करता था। इस संरक्षण के बदले व्यापारी द्वारा दिया जाने वाला कर राजकीय सेवा के प्रतिफल अथवा वेतन के रूप में देखा गया। शान्तिपर्व में इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

“शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धृतागमम्”।¹⁴

इसका मूल आशय यह है कि राजा को शास्त्रसम्मत एवं न्यायपूर्ण तरीके से राज्य की आय प्राप्त करनी चाहिए। इस दृष्टि से कराधान राजा का स्वेच्छाचारी अधिकार न होकर उसके द्वारा प्रदान की जाने वाली सुरक्षा एवं प्रशासनिक सेवाओं से जुड़ा हुआ था।

महाभारतकालीन व्यापार की व्यापकता का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष विभिन्न प्रकार की पण्य वस्तुओं का प्रदेशों के मध्य आवागमन था। भारत के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में प्राकृतिक संसाधनों एवं उत्पादन की विविधता के कारण एक क्षेत्र की आवश्यकताएँ दूसरे क्षेत्र के उत्पादों से पूरी होती थीं। परिणामस्वरूप कृषि उत्पाद, पशुधन, वस्त्र, धातुएँ, रत्न, सुगन्धित द्रव्य, वन—उत्पाद तथा अन्य उपयोगी वस्तुएँ एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक पहुँचती थीं। महाभारत में भारतवर्ष के विभिन्न जनपदों एवं भौगोलिक क्षेत्रों का विस्तृत उल्लेख इस व्यापक आर्थिक संपर्क की पृष्ठभूमि को समझने में सहायक है।

इस अंतरक्षेत्रीय व्यापार से नगरों को विशेष लाभ प्राप्त हुआ। जिन नगरों का स्थान प्रमुख व्यापारिक मार्गों के समीप था, वे वस्तुओं के संग्रह, वितरण और पुनर्वितरण के केन्द्र बन गए। दूरस्थ प्रदेशों से आने वाले व्यापारी ऐसे नगरों में अपने माल का विक्रय करते तथा स्थानीय वस्तुओं को खरीदकर अन्य क्षेत्रों में ले जाते थे। इससे नगरों में बाजारों का विस्तार, व्यापारिक प्रतिष्ठानों की वृद्धि और विभिन्न प्रकार के शिल्पों की मांग में वृद्धि होती थी। फलतः व्यापारिक गतिविधियाँ नगरीय अर्थव्यवस्था के विस्तार का प्रमुख माध्यम बनीं। महाभारत में वर्णित इस व्यापारिक व्यवस्था से यह भी स्पष्ट होता है कि आर्थिक जीवन में स्थानीय, अंतरजनपदीय तथा बाहरी व्यापार परस्पर संबद्ध थे। किसी एक नगर अथवा जनपद की आर्थिक समृद्धि केवल उसके स्थानीय उत्पादन पर निर्भर नहीं थी, बल्कि वह व्यापक व्यापारिक नेटवर्क से जुड़ी हुई थी। विभिन्न दिशाओं से आने वाले व्यापारी, उनके साथ आने वाली पण्य वस्तुएँ तथा राजकीय कर व्यवस्था इस व्यापक आर्थिक संपर्क को संस्थागत आधार प्रदान करती थीं। समग्रतः महाभारत में व्यापारियों के प्रति राजकीय दृष्टिकोण संरक्षणात्मक एवं व्यावहारिक दिखाई देता है। व्यापारियों को सम्मान देना, उनके लिए नगरों में अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित करना, दूरस्थ एवं विदेशी वणिकों को व्यापार की सुविधा प्रदान करना, उनकी आर्थिक स्थिति के अनुरूप कर निर्धारित करना तथा मार्ग एवं व्यापार की सुरक्षा सुनिश्चित करना ये सभी उपाय विकसित नगरीय अर्थव्यवस्था की आवश्यक शर्तें थे। इससे स्पष्ट होता है कि महाभारतकालीन नगरों की समृद्धि में वाणिज्य की केंद्रीय भूमिका थी और राज्य व्यापार को राजस्व के स्रोत के साथ-साथ आर्थिक विकास के साधन के रूप में भी देखता था।¹⁵

व्यापारिक मार्गों का स्वरूप महाभारत में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से परिलक्षित होता है। उत्तर-पश्चिम भारत से तक्षशिला तथा गांधार होकर मध्य गंगा घाटी तक आने वाला मार्ग उत्तरापथ का भाग था, जबकि दक्षिण भारत से अवन्ती, विदर्भ एवं पश्चिमी समुद्री तटों को जोड़ने वाले मार्ग दक्षिणापथ के रूप में विकसित हुए। महाभारत में गांधार, कम्बोज, बाहिलक, सिन्धु, सौराष्ट्र, विदर्भ, मगध, अंग, बंग, कलिंग, प्रागज्योतिष तथा पाण्ड्य आदि अनेक जनपदों का उल्लेख इस तथ्य की पुष्टि करता है कि ये प्रदेश आर्थिक दृष्टि से परस्पर जुड़े हुए थे। व्यापारिक मार्गों के विकास में नदियों की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। गंगा, यमुना, सरस्वती, सिन्धु, नर्मदा तथा गोदावरी जैसी नदियाँ केवल धार्मिक महत्त्व की नहीं थीं, बल्कि वे वस्तुओं के परिवहन का भी प्रमुख माध्यम थीं। नदी मार्ग अपेक्षाकृत सुरक्षित एवं कम व्यय वाले होते थे, जिसके कारण भारी वस्तुओं के परिवहन में उनका व्यापक उपयोग किया जाता था। नदी तटों पर स्थित नगर धीरे-धीरे व्यापारिक केन्द्रों में परिवर्तित हो गए। हस्तिनापुर का गंगा तंत्र से तथा इन्द्रप्रस्थ का यमुना तट से जुड़ा होना इनके आर्थिक विकास का प्रमुख कारण माना जा सकता है। महाभारत में समुद्री व्यापार के भी संकेत प्राप्त होते हैं। द्वारका का समुद्र तट पर स्थित होना केवल सामरिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं था, बल्कि वह पश्चिमी समुद्री व्यापार का भी प्रमुख केन्द्र था। सभा पर्व तथा अन्य प्रसंगों में समुद्र से प्राप्त रत्न, मोती, शंख तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं का उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि समुद्री व्यापार भारतीय अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग था। समुद्री मार्गों के माध्यम से पश्चिमी एशिया तथा समुद्रतटीय क्षेत्रों के साथ वस्तुओं का आदान-प्रदान संभव था।

निष्कर्ष

महाभारत कालीन नगरीय अर्थव्यवस्था के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि महाभारत केवल एक धार्मिक अथवा

महाकाव्यात्मक ग्रन्थ नहीं है, बल्कि यह प्राचीन भारत के आर्थिक, सामाजिक एवं नगरीय जीवन का एक महत्वपूर्ण स्रोत भी है। इसमें वर्णित नगरों, व्यापारिक गतिविधियों, शिल्प परम्पराओं, बाजार व्यवस्था तथा आर्थिक संगठनों का विश्लेषण यह प्रमाणित करता है कि महाभारतकालीन समाज में नगरीकरण की प्रक्रिया पर्याप्त विकसित अवस्था में पहुँच चुकी थी। हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, द्वारका, मथुरा, विराटनगर एवं अन्य नगर केवल राजनीतिक सत्ता के केन्द्र नहीं थे, बल्कि वे उत्पादन, वितरण, विनिमय तथा उपभोग के संगठित आर्थिक केन्द्रों के रूप में भी कार्य कर रहे थे। अध्ययन से ज्ञात होता है कि महाभारतकालीन अर्थव्यवस्था का मूल आधार कृषि था, किन्तु कृषि से प्राप्त अधिशेष उत्पादन ने व्यापार, शिल्प एवं नगरीय विकास को सुदृढ़ आधार प्रदान किया। ग्रामीण क्षेत्रों से प्राप्त कृषि उत्पाद नगरों में पहुँचते थे, जहाँ उनका विनिमय विभिन्न शिल्प उत्पादों एवं व्यापारिक वस्तुओं के साथ होता था। इस प्रकार ग्रामीण एवं नगरीय अर्थव्यवस्था परस्पर पूरक थीं और दोनों के मध्य निरन्तर आर्थिक संपर्क विद्यमान था। महाभारत में वर्णित व्यापारिक मार्गों एवं विभिन्न जनपदों के मध्य आर्थिक संबंधों से यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन भारत में अंतरजनपदीय व्यापार का सुविकसित तंत्र विद्यमान था। उत्तरापथ एवं दक्षिणपथ जैसे स्थलीय मार्गों के साथ-साथ नदी एवं समुद्री मार्गों का भी व्यापारिक उपयोग किया जाता था। व्यापार के माध्यम से धातुएँ, रत्न, वस्त्र, पशुधन, औषधियाँ, सुगन्धित पदार्थ तथा अन्य बहुमूल्य पण्य वस्तुएँ विभिन्न क्षेत्रों तक पहुँचती थीं। इससे क्षेत्रीय उत्पादन की विशिष्टता तथा आर्थिक परस्परावलम्बन का भी ज्ञान होता है। बाजार व्यवस्था के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि महाभारतकालीन नगरों में क्रय-विक्रय की संगठित प्रणाली विकसित हो चुकी थी। पण्य वस्तुओं की विविधता, व्यापारिक गतिविधियों की निरन्तरता तथा विभिन्न क्षेत्रों के विशिष्ट उत्पादों का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि तत्कालीन बाजार केवल स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति का माध्यम नहीं थे, बल्कि व्यापक आर्थिक नेटवर्क का अभिन्न अंग थे। इन बाजारों ने उत्पादन एवं उपभोग के मध्य सेतु का कार्य करते हुए नगरीय अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाया। शिल्प एवं उद्योगों का विकास महाभारतकालीन आर्थिक संरचना की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता के रूप में सामने आता है। रथ निर्माण, धातु उद्योग, अस्त्र-शस्त्र निर्माण, वस्त्र उद्योग, काष्ठ शिल्प, मृद्भाण्ड निर्माण तथा आभूषण निर्माण जैसी विविध उत्पादन गतिविधियाँ तत्कालीन तकनीकी दक्षता एवं श्रम विशेषीकरण की परिचायक थीं। इन उद्योगों ने न केवल नगरों की आर्थिक समृद्धि में योगदान दिया, बल्कि भारतीय शिल्प परम्परा एवं तकनीकी विकास को भी स्थायित्व प्रदान किया। श्रेणियों, श्रेष्ठियों, सार्थवाहों तथा व्यापारिक समुदायों की सक्रिय भूमिका से यह भी स्पष्ट होता है कि आर्थिक गतिविधियाँ संगठित संस्थागत स्वरूप ग्रहण कर चुकी थीं। व्यापारियों एवं शिल्पकारों के मध्य सहयोग, श्रम विभाजन तथा व्यवसायिक संगठन ने उत्पादन एवं व्यापार की निरन्तरता सुनिश्चित की। राज्य द्वारा इन आर्थिक वर्गों को संरक्षण प्रदान किया जाना यह दर्शाता है कि आर्थिक समृद्धि को सुशासन एवं राज्य की स्थिरता का आधार माना जाता था।

समग्रतः यह अध्ययन इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि महाभारतकालीन नगरीय अर्थव्यवस्था बहुआयामी, संगठित एवं गतिशील थी। कृषि, व्यापार, शिल्प, बाजार व्यवस्था तथा आर्थिक संगठनों के समन्वित विकास ने प्राचीन भारतीय नगरों को आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ बनाया। महाभारत में निहित आर्थिक संकेत भारतीय नगरीकरण के प्रारम्भिक विकासक्रम, उत्पादन प्रणाली, व्यापारिक संगठन तथा आर्थिक संस्थाओं के इतिहास को समझने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण स्रोत सिद्ध होते हैं। अतः महाभारत का आर्थिक एवं नगरीय दृष्टि से पुनर्पाठ प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास के अनेक उपेक्षित आयामों को प्रकाश में लाने के साथ-साथ भारतीय नगरीकरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया को समझने में भी महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है।

Author's Declaration-

I/We accept full responsibility, jointly and individually, for this article's content, views, analysis, conclusions, and any related errors, plagiarism, copyright, ethical, defamatory, or legal issues, now or in the future. The publisher, editors, and reviewers shall bear no liability. I/We declare no financial, personal, academic, or professional conflict of interest.

सन्दर्भ—

1. महाभारत, सभा पर्व, गीता प्रेस, गोरखपुर, अध्याय 33-38।
2. महाभारत, आदि पर्व, 2.336; शल्य पर्व, 4.29
3. महाभारत, सभा पर्व, 57/78
4. महाभारत, सभा पर्व, 57/79
5. महाभारत, शान्तिपर्व, 89/124-26

6. महाभारत, शान्तिपर्व, 69 / 20; 71 / 10
7. महाभारत, सभा पर्व, 57 / 78
8. महाभारत, सभा पर्व, 5 / 22; सभा 57 / 71; शान्तिपर्व, 88 / 28
9. महाभारत, सभा पर्व, 51 / 15 "कच्चित्ते पुरुषा राजन् पुरे राष्ट्रे च मानिताः..." ।
10. महाभारत, आदिपर्व, 207 / 40
11. महाभारत, आदिपर्व, 291 / 75
12. महाभारत, सभा पर्व, 51 / 14
13. महाभारत, शान्तिपर्व, 89 / 123
14. महाभारत, शान्तिपर्व, 87 / 13–18 "विक्रयक्रयमध्वानं भक्तञ्च सपरिच्छदम्" ।
15. महाभारत, शान्तिपर्व, 71 / 10

Disclaimer/Publisher's Note: The views, content, and claims expressed in this article are solely the "responsibility of the author(s). The publisher and editors accept no legal liability for any errors, "copyright infringement, or loss or damage arising from its use.

Cite this Article

"देवी, ए., और गुप्ता, डी." (2026), "महाभारत कालीन नगरों के आर्थिक परिप्रेक्ष्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन", *International Journal of Arts, Humanities, Social Sciences and Commerce*, 2(1), 1–6. <https://doi.org/10.65919/ijahssc.2026.v2i2001>

"Copyright © 2026 The Author(s). This work is licensed under the Creative Commons Attribution-NonCommercial 4.0 International (CC BY-NC 4.0) License, permitting sharing and adaptation with appropriate attribution for non-commercial purposes".